यह ऋषभदेव भगवान की स्तुति (चलती है)। पद्मनन्दी आचार्य महाराज हजार वर्ष या नौ वर्ष लगभग पहले जंगल में बसते थे। वे अपने आत्मा का स्वभाव परमात्मपद जो प्राप्त हुए, ऐसा ही प्राप्त करने का मेरा स्वभाव है और मेरा स्वरूप ज्ञानानन्द पुण्य-पाप के विकल्प के कारणरहित और देहादि की क्रिया के संयोगरहित मेरी चीज़ अन्दर के स्वभाव में अखण्ड आनन्द के भरचक स्वभाव से भरपूर पदार्थ, ऐसी अन्तर्मुख दृष्टि और ज्ञान तथा रमणता की भूमिका में रमते थे, उन्हें परमात्मा की भक्ति विकल्प आया। सर्वज्ञ परमात्मा आदि जिनेश्वर ऋषभदेव भगवान। ऐसा भाव भक्तों को भगवान के प्रति आये बिना नहीं रहता। समझ में आया?

कोई कहे, परन्तु ऐसी निश्चय की बात वहाँ और भगवान की भक्ति क्या? भाई! वही कहते हैं। इसीलिए तो पहली बात हुई। ऐसा आत्मा जिसे क्षण में और पल में जैसे हथेली में आँवला दिखायी दे, वैसे क्षण में और पल में सप्तम (गुणस्थान) अन्तर दशा अप्रमत्त आनन्द की दिखायी देती है, अनुभव में आती है और दूसरे क्षण में जरा शुभराग आता है तो किसी समय अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य के भाव का भी मुनि को शुभराग होता है और किसी समय परमात्मा या देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति का भाव भी धर्मी को स्वलक्षी दृष्टि होने पर भी पूर्णता की प्राप्ति न हो, वहाँ ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता, तथापि धर्मी उसे पुण्यबन्ध का कारण समझता है। उसे राग की मन्दता का भाव भगवान के प्रति प्रेम, प्रियता और भक्ति के उछाल में उसे—शुभभाव को वह पुण्यबन्ध का स्वभाव जानता है।

धर्म तो उस रागरहित अखण्डानन्द प्रभु चैतन्य हूँ, ऐसी जिसे श्रद्धा-ज्ञान में चीज़ को धारण किया है, पूरी चीज़ को जिसने श्रद्धा-ज्ञान में धारण करके, टिकाकर, अवलम्बन कर ध्येय किया है। उसमें जो दशा हुई, उसे वह धर्म समझता है। कहो, समझ में आया? केवलचन्दभाई! इस पूजा-भक्ति में धर्म नहीं है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : तब तो उसे भक्ति का भाव छूटकर पूर्णानन्द की प्राप्ति न करे। परन्तु पूर्णानन्द की प्राप्ति तो, उन भगवान को भी दूसरों के प्रति जो धर्म के प्रति लगनी या दूसरे समझें यह इत्यादि विकल्प उठता था, उसका अभाव करके स्वभाव की पूर्ण प्राप्ति की है, तथापि उन्हें पहली शुरुआत की भूमिका में ऐसा भाव परमात्मा के प्रति, सर्वज्ञदेव के प्रति स्वलक्ष्यी रुचि, दृष्टि और रमणता होने पर भी परलक्ष्यी का भाव पूर्णता की प्राप्ति के पहले आये बिना नहीं रहता। पहली स्तुति पहली गाथा में की।

अब दूसरी गाथा। बोलो।

गाथा २

सयलसुरासुरमणिमउडकिरणकब्बुरियपायपीढ तुमं।
धण्णा पेच्छंति थुणंति जवंति झायंति जिणणाह।।२।।

अर्थ :– समस्त जो सुर तथा असुर, उनके जो चित्र–विचित्र मणियों से सहित मुकुट, उनकी जो किरणों, उनसे कुर्वरित, अर्थात् चित्र–विचित्र हैं सिंहासन जिनका – ऐसे हे जिननाथ! जो मनुष्य आपको देखते हैं, आपकी स्तुति करते हैं तथा आपका जप और ध्यान करते हैं, वे मनुष्य धन्य हैं।

भावार्थ :– हे जिनेन्द्र! आपको बड़े–बड़े सुर–असुर भी आकर नमस्कार करते हैं, इसीलिए प्रत्येक मनुष्य को आपके दर्शन का, आपकी स्तुति का, आपके जप तथा ध्यान का सुलभ रीति से अवसर नहीं मिल सकता, किन्तु जो मनुष्य ऐसे पुण्यवान हैं, जिनको आपका दर्शन मिलता है; आपकी स्तुति, जप और ध्यान का भी अवसर मिलता है, वे मनुष्य, संसार में धन्य हैं, अर्थात् उन मनुष्यों को धन्यवाद है।

गाथा - २ पर प्रवचन

सयलसुरासुरमणिमउडकिरणकब्बुरियपायपीढ तुमं।
धण्णा पेच्छंति थुणंति जवंति झायंति जिणणाह।।२।।

समस्त सुर-असुर के चित्र-विचित्र मणियों से सहित मुकुट की किरणों द्वारा उनका सिंहासन चित्र-विचित्र हैं। क्या कहते हैं? भगवान पूर्व में विकल्प में पहले थे, तब जो पुण्य बँध गया, उस पुण्य के संयोगरूप से क्या मिलता है, यह बात साथ में बतलाना चाहते हैं। हमें भी भगवान के प्रति भक्ति और शुभराग का जो भाव आया, वह मन का विस्तार है, प्रसार है, चित्त उसमें जुड़ा हुआ है। उसके फलरूप से तो संयोग मिलेंगे। यह बात हमारे लक्ष्य में और श्रद्धा में है। ऐसा बतलाते हुए भगवान को भी कहते हैं कि हे प्रभु! आपका सिंहासन कोई आपके पूर्व के पुण्य के कारण से, शुभराग के कारण से वह पुण्य बँधा, उसका जो सिंहासन—आपकी बैठक। ले! वीतराग हुए और बैठक सिंहासन की! वे तो अध्धर बैठते हैं परन्तु नीचे उन्हें सिंहासन होता है। उससे चार अँगुल ऊँचा निरावलम्बन उन जिन परमात्मा की देह सर्वज्ञदेव की होती है। परन्तु नीचे सिंहासन है, उनके पूर्व के पुण्य के फल को वर्णन करके कहते हैं और अपनी दृष्टि में भी रखते हैं। हम जो आपकी भक्ति और स्तुति करते हैं, उसमें हमें शुभभाव होता है, उसके फल में स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती; उसके फलरूप से तो संयोग प्राप्त होंगे। बराबर होगा? धन्नालालजी! यह सब धर्म-धर्म करते हैं। उसमें धर्म होता है, धर्म होता है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : रयणसार में कुन्दकुन्दाचार्य...

पूज्य गुरुदेवश्री : रयणसार में वह तो व्यवहारधर्म की बात की है। निश्चय की धर्म की बात नहीं। निश्चय अर्थात् सत्यधर्म। ऐसा चिदानन्द जहाँ घुलता है और उसकी अन्तर की एकाग्रता की दशा की शुद्धता की व्यक्तता, वह धर्म है।

आचार्य—कुन्दकुन्दाचार्य ही प्रवचनसार में कहते हैं। प्रवचनसार में नहीं, १७२ गाथा में नहीं? कि शुभ-अशुभभाव, यह शुभभाव का फल, यह अशुभभाव का फल, वह धधकते अंगारे जैसा है। अशुभभाव का फल हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना, काम, क्रोध, ममता, कमाना, कमाना - ऐसी वृत्तियों का भाव, उसके फल में तो धधकते अंगारे मिलेंगे। बराबर होगा इसमें? और शुभभाव के फल में उबलते हुए गर्म पानी की दाह जैसा फल मिलेगा। यह तो उबलता पानी लिया है, भाई! घी भी लिया है। परन्तु उबलता पानी हो गर्म और घी जैसा गर्म हो, ऐसे शुभभाव में संयोगरूपी फल

मिलकर उसमें उबलता राग होकर जीव दु:खी होता है। ओहोहो! कहो, समझ में आया? यह कुछ शब्द है अवश्य। सुख-दु:ख में सुलगता हुआ नहीं? १७२ में। १७२, पंचास्तिकाय। हों! प्रवचनसार नहीं। पंचास्तिकाय, नहीं? कहो, समझ में आया? आहाहा!

देखो तो सही! स्वयं स्तुति करे, भक्ति करे, विकल्प आवे, मुनियों भी सिद्धभक्ति नहीं करते? जहाँ भिक्षा के लिये जाते हैं, वहाँ सिद्धभक्ति स्तोत्र करके फिर आहारादि की क्रिया बनने की हो तो बनती है। यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा, हे प्रभु! आपकी हमें भक्ति का शुभराग और हमारे चैतन्यधातु ज्ञानानन्द की जो अन्तर भक्ति निश्चय से वर्तती है, उसका फल तो शान्ति है, परन्तु आपके फल में जो भक्ति के राग में आपको भी यह सिंहासन आदि वीतराग होने के पश्चात् मिले हैं। वह कोई राग से या जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बाँधा है, उस भाव से प्रभु! आपको भी कहीं वीतरागता नहीं हुई। आत्मा की शान्ति कहीं उस भाव से नहीं हुई। उस भाव से तो ये संयोग बँधे कर्म के। क्योंकि शुभभाव वह संयोगी भाव है; स्वाभाविक भाव नहीं।

यह नामस्मरण, भगवान का नाम स्मरण, जाप, भगवान का-पर का ध्यान और पर भगवान को देखना, दर्शन करना, ऐसा भाव धर्मी जीव को भी अशुभ न हो, तब उस काल में भक्ति का शुभभाव आये बिना नहीं रहता। मन्दिर, पूजा, भक्तिभाव होता है परन्तु धर्मी की दृष्टि में उस शुभभाव के फलरूप से ऐसा समझता है कि प्रभु! वह तो संयोगीभाव, इन संयोग को प्राप्त (कराने का) कारण है। हमारे आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति कहीं संयोगीभाव से नहीं होती। कहो, बराबर होगा इसमें? नेमिदासभाई! तो ऐसा सब सुनकर नहीं बनावे यह सब मन्दिर-बन्दिर न। ये दोनों साथ बैठे हैं। नेमिदासभाई ने बनाया है और भगवानजीभाई अभी तो बनाते हैं। होता है वहाँ जामनगर। कोई कहता था, माघ शुक्ल अष्टमी का वहाँ खातमुहूर्त है। मधुवन में श्वेताम्बर में एक बड़ा महोत्सव है। माघ शुक्ल अष्टमी का। भगवान की प्रतिष्ठा है और कुछ है। माघ शुक्ल अष्टमी कुछ दिन ऐसा आता लगता है। भगवानजीभाई! वहाँ भी मुहूर्त आया है किसी का, कहते हैं।

यहाँ कहते हैं, भाव तो ऐसा होता है, भाई! जब तक अरागी-वीतरागी आत्मा की दशा न हो और श्रद्धा वीतरागस्वभाव ऐसा आत्मा, उसके प्रति रुचि, श्रद्धा, ज्ञान होने

पर भी राग की रुचि नहीं, राग का आदर नहीं तो भी, आदर नहीं होने पर भी आये बिना नहीं रहता। तो कहते हैं, प्रभु! आपको जो सिंहासन मिला है न, उस सिंहासन पर क्या होता है? वहाँ इन्द्र बड़े मुकुटवाले... कहते हैं कि **समस्त सुर-असुर के चित्र-विचित्र मणियों से सहित मुकुट की किरणों द्वारा उनका सिंहासन चित्र-विचित्र हैं।** ऐसा कहकर यह कहते हैं कि सिंहासन मिला और इन्द्र आकर ऐसे मणिरत्न के मुकुट में, मणिरत्न ऐसे जड़े हैं, उनकी किरणें सिंहासन में पड़ती है। यह सब पुण्य के फलरूप से आपको प्राप्त हुआ है। समझ में आया?

अब कहते हैं, **ऐसे हे जिननाथ!** ऐसे हे वीतरागी प्रभु! अपना कल्याणस्वभाव चैतन्य की जाति की पहले दृष्टि और रुचि किये बिना इसे—शुभराग को व्यवहारभक्ति का आरोप भी कहने में नहीं आता। परन्तु जब आत्मा ज्ञायक चैतन्यस्वरूप सहज आनन्द-ज्ञान का पिण्ड हूँ, मैं जगत के कोई विकल्प, राग यह भक्ति का आवे, उसकी कर्ताबुद्धि (नहीं है) और दृष्टि में वह कर्तृत्व नहीं है, तथापि आता है, उसे वह पुण्यबन्ध का कारणरूप से समझकर कहता है, प्रभु! हे जिनेन्द्र! हे वीतराग! **जो मनुष्य आपको देखता है...** वीतराग ऋषभदेव परमात्मा को लक्ष्य में लेने से और ऐसे निश्चय से तो भगवान ज्ञायकमूर्ति चैतन्य को लक्ष्य में लेकर कहता है कि हे प्रभु! आपको देखता है।

आपको देखता है, इसमें दो प्रकार—एक चैतन्य ज्ञायकमूर्ति शुद्ध रागरहित हूँ, ऐसा जो श्रद्धा-ज्ञान से आत्मा को देखता है और शुभराग होने पर भगवान की प्रतिमा, मूर्ति या साक्षात् भगवान समवसरण में विराजते हों, उन्हें देखता है, वह धन्य है—कहते हैं। उसको धन्य कहते हैं। भगवानजीभाई! स्त्री को नहीं देखता अशुभराग से? पुत्र को नहीं देखता अशुभराग से? ऐसा हृदय का हार और मेरे नेत्र और आँखें स्थिर होती है पुत्र, मेरा कलेजा स्थिर हो तुझे देखकर। नहीं बातें करते, गप्प... गप्प... हों! कुँवरजीभाई! यह सब गप्प चलता है सब। परन्तु मोह की गाँठ ऐसी जबरदस्त है।

'माया बड़ी मोहनी जैना, वज्रमय गाळा, अे सांगो कहे सलवाळा कंईक जडया ने कंईक पाळा।' पाळा समझते हो? पैर से चले उसे पाळा कहते हैं और ऊँट पर बैठकर चले... जेल होती है न जेल? कैद में कोई ऊँट के ऊपर बैठा हो और कोई नीचे बैठा हो। सब फँसे हैं जेल में।

इसी प्रकार कोई संसार में और त्यागी में भी जिसे यह आत्मा चिदानन्द की मूर्ति है, ऐसी खोलने की दृष्टि और रुचि हुई नहीं और अकेले शुभ-अशुभराग के बन्धन के जड़ की जेल में, यह जड़ वह विकार जो चैतन्य जो उसे अन्धकारमय भाव, उसकी जेल में बँधे हैं, वे फिर त्यागी हुए हो तो भी भोगी जैसे हैं। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि प्रभु! आपको जो देखता है न, आहाहा! वैसे ज्ञायक चैतन्य देखता है श्रद्धा-ज्ञान में और शुभराग होने पर भगवान ऐसे परमात्मा सर्वज्ञ हैं, ऐसा देखता है, उसे पुण्यबन्ध होता है, स्वभाव को देखने की जितनी एकाग्रता (होती है), उसमें संवर और निर्जरा होती है। संवर-निर्जरा अर्थात् धर्म। उसे धन्य कहते हैं। सम्यग्ज्ञान, दर्शन बिना भी धर्म की साधारण जिज्ञासा में भी अशुभभाव के नाश के काल में या अभाव के काल में व्यवहार से उसे शुभभाव भी आये बिना रहता नहीं। परन्तु उसे धर्म व्यवहार से है, ऐसा कहने में नहीं आता। ओहोहो! सेठिया-बेठिया हुए हों और पैसा-बैसा हुए हों और पाँच-पचास हजार, लाख-दो लाख खर्च करे, वहाँ धर्मधुरन्धर और भारी धर्म किया, कहते हैं। केवलचन्दभाई! धूल में भी धर्म नहीं है। अभी तुझे यह जन्म-मरण का अंश लेना, इस चौरासी के अवतार में अनादि काल से डण्डे खा-खाकर मरकर पूरा उतर गया अन्दर। क्या तेरी चीज़ है, उसकी तुझे खबर नहीं। बड़ा राजा अनन्त बार हुआ, अनन्त-अनन्त बार हुआ, नारकी अनन्त बार हुआ, स्वर्ग का देव अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक का हुआ परन्तु चैतन्य की शान्ति की श्रद्धा क्या है और उसका ज्ञान, उसके भान बिना इसका चूरा हो गया।

वर्तमान दशा में... नहीं आता यह? आत्महनो भवंति। आत्मा का घातक है। पर को मैं जिला सकता हूँ, पर को मैं मार सकता हूँ, मैं पैसा कमा सकता हूँ, मैं पैसा खर्च कर सकता हूँ, मैं व्यवस्था परिवार की, जाति की, देश की कर सकता हूँ और उनकी रक्षा मैं मेरी व्यवस्था का भाग है, ऐसा जो मानता है और पुण्य तथा पाप के परिणाम को आत्मा के स्वभाव के साथ एकरूप करके पड़ा है, चद्दर तानकर, आत्महनो भवंति। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, भाई! आत्मा का घात है, हों! चोट लगती है, भाई! ऐसे चमड़ी उतरकर गर्म पानी छांटे और छिड़के नमक-नमक। जलन... जलन... अरे! भाई! जलन शरीर की नहीं। अन्दर में आकुलता की वृत्तियाँ खड़ी होती हैं। परमस्वभाव

ऐसा भगवान, उसे स्मरण में, श्रद्धा-ज्ञान में न ले (और) अकेली आकुलता... आकुलता... आकुलता में जल रहा है। जलहल सुलग रहा है। आहाहा! और ऐसा मानता है कि हमने अब कुछ किया। कोई शुभभाव हुए हों, पुण्यबन्धन हमने कुछ किया और हम अब कुछ ऊँचे आयेंगे। ऊँचा क्या धूल में आवे? प्रभु! आपको आपके प्रभुत्व अन्तर के स्वभाव को देखता है और आपकी बाह्य सर्वज्ञ आदि प्रभुता को व्यवहार से देखता है आपका जप करता है, आपकी स्तुति करता है।

क्या कहते हैं? यह मुनि है, भावलिंगी सन्त हैं। एकावतारी-एक भव में मुक्ति पानेवाले हैं, सर्वज्ञपद को पानेवाले हैं। वे भी जब ऐसे भक्ति के काल में ऐसे उछल रहे हैं, प्रभु के प्रति। प्रभु! आहाहा! हमारी प्रभुता के लक्ष्य से आपकी प्रभुता के गीत हम गाते हैं। समझ में आया? तो भी फिर इसका विवाद इतना। परन्तु यह राग आया, इस कारण से हुआ या नहीं अन्तर में आत्मा के स्वभाव को प्रगट करने के लिये? भाई! कारण होवे तो उसे छोड़कर पूर्ण कैसे प्राप्ति करे? अन्तर में ध्यान में वे तो गुम हो गये। अन्तर चिदानन्दस्वरूप के अन्तर के घोलन में सातवें गुणस्थान में गुणी आते हैं और छठवें में आवें, वे वापस हटकर वहाँ जाते हैं और छठवीं भूमिका आवे, तब ऐसे विकल्प होते हैं तो उन विकल्प की आत्मा के स्वभाव के लिये कुछ कीमत हो तो छोड़कर अप्रमत्त अन्दर में क्षण-क्षण में क्यों होते हैं? बराबर है? धन्नालालजी! विवाद तो बहुत करेंगे पण्डित लोग। अनादि काल से है। यह तो अनादि काल से चला आता है। भाई! तेरी चीज़ क्या है और तू कैसे प्राप्त करेगा, इसकी तुझे खबर नहीं है।

कहते हैं कि हे भगवान! आपकी स्तुति करते हैं। भगवान की स्तुति में शुभभाव है। अपने स्वभाव की स्तुति ज्ञानस्वभाव केवलज्ञान में एकाकार होना, वह निश्चयस्तुति है। भगवान की स्तुति, वह व्यवहार स्तुति। और आपका जाप करता है। जाप के दो प्रकार—आत्मा आनन्दस्वरूप की एकाग्रता, वह आत्मा का जाप है और भगवान का स्मरण करना, वह भगवान का व्यवहार जाप है। वह शुभराग है। ओहो! यह तो पहले कहा। ऐसे राग से सिंहासन आदि ऋद्धि मिलेगी, हों! ऐसा कहते हैं। और हमारे चैतन्य की अन्दर श्रद्धा-ज्ञान-जाप-ध्यान और देखने से पूर्ण की प्राप्ति उसके स्वभाव से ही होगी। दूसरे से होगी नहीं। ऐसी श्रद्धा की डोर जिसने अन्तर में महान निर्मल की है और

उस निर्मल डोर के राग से चला जाए, उसे ऐसी भक्ति का भाव आवे, उसे व्यवहारभक्ति कहा जाता है।

जप और ध्यान करता है, वह मनुष्य धन्य है। प्रभु आपका ध्यान करता है। अकेला भगवान का ध्यान नहीं, हों! रात्रि में प्रश्न करते थे न? किसने कहा? कि भगवान का चिन्तवन कैसे करना? भाई! पहले तो इस आत्मा का स्वभाव बराबर शास्त्र से, गुरुगम से उसे लक्ष्य में, वास्तविक क्या है? ऐसे लेना चाहिए और लेकर उसकी ओर के प्रयत्न परायणता द्वारा श्रद्धा-ज्ञान का अनुभव करके जो आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान की शान्ति प्राप्त हो, वह वास्तविक भक्ति है। वह वास्तविक ध्यान है। वह स्थिर न रह सके, तब भगवान की विचारणा भी आती है। शुभ विकल्प होवे तो कहते हैं कि निश्चय से निश्चय प्रकार से धन्य है और व्यवहार से व्यवहार प्रकार से उस मनुष्य को व्यवहार से धन्य कहा जाता है। परन्तु निश्चय की भान की भूमिका हो तो (कहा जाता है)। नहीं तो अकेला जप और ध्यान, वह कहीं आत्मा के स्वभाव को शान्ति देनेवाले नहीं हैं।

हे जिनेन्द्र! बड़े-बड़े सुर-असुर भी आकर आपको नमस्कार करते हैं। बड़े-बड़े इन्द्र। अब वहाँ कहाँ साधारण का गजु है, ऐसा कहते हैं। अर्थात् साधारण प्राणी नहीं, बड़े-बड़े महात्मा सन्त भी आत्मा का ध्यान करते हैं और बड़े-बड़े इन्द्र और नरेन्द्र और चक्रवर्ती तथा बलदेव भी भगवान के दर्शन करने आते हैं। दोनों प्रकार से लेना। आत्मा बड़ा, उसका ध्यान, नमस्कार और भगवान बड़े। उन्हें बड़े-बड़े आकर नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य को आपके दर्शन का तथा आपकी स्तुति का और आपके जप और ध्यान का अवसर सुलभ रीति से नहीं मिल सकता। ऐसा कहते हुए कहते हैं, अनन्त काल के भटके हुए, अनन्त काल के भटकते हुए, ऐसे चैतन्यमूर्ति को अपने स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान का अवसर नहीं मिलता और ऐसा अवसर मिलकर सच्चे परमात्मा के दर्शन, भगवान की भक्ति आदि ऐसे शुभभाव भी हुए वे व्यवहार से भी दुर्लभ हैं। निश्चय से स्वभाव के दर्शन दुर्लभ, व्यवहार से भगवान के दर्शन दुर्लभ हैं। कहो, समझ में आया? **सुलभ रीति से नहीं मिल सकता।**

इसलिए जो मनुष्य ऐसा पुण्यभाव है... जो पुण्यवान है कि जिसे आपके

दर्शन... कहो, समझ में आया? **आपके दर्शन मिलते हैं, तथा आपके स्तुति तथा जप और ध्यान का भी अवसर मिलता है, वह मनुष्य संसार में धन्य है।** अर्थात् ऐसे मनुष्य को हम धन्यवाद देते हैं। उस निश्चय और व्यवहार की दोनों बात साथ में है, हों! स्त्री-पुत्र का स्मरण करता है या नहीं? मौके से यह आया या नहीं? पुत्री आयी या नहीं? पुत्र आया या नहीं? विवाह के समय का प्रसंग हो तो अपने विवाह की शोभा बढ़ेगी। मण्डप की शोभा बढ़ेगी, ऐसा पत्र में लिखते हैं। तुम्हारे आने से मण्डप की शोभा बढ़ेगी। धूल में भी शोभा नहीं। तेरा मण्डप भी नहीं और शोभा भी नहीं। वजुभाई! लिखते हैं या नहीं वहाँ?

मुमुक्षु : लिखना ही पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में सुलग रहा सब दाह में। परन्तु जहाँ अच्छा समधि हो अच्छा रिश्तेदार हो और सगा और कुटुम्बी कोई, उसके पुत्र के वे... सही अवसर पर आपको आना चाहिए, हमारी शोभा में वृद्धि होगी। यहाँ कहते हैं, प्रभु! आया है न? प्रवचनसार में नहीं आया? शुरुआत में। प्रभु! हमारा चिदानन्दस्वरूप है न, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके हम स्वरूप की रमणता उपशम करना चाहते हैं। प्रभु! हमारे स्वयंवर में आपकी उपस्थिति होना चाहिए। अरिहन्तों को, सिद्धों को बुलाता है। ओहोहो! प्रभु! हम आत्मा के साथ विवाह करने लगे हैं। चिदानन्द प्रभु अखण्डानन्द की अन्दर लगन लगी है और अब उपशमभाव, चारित्रभाव, शान्तभाव, धर्मभाव हम ग्रहण करना चाहते हैं। ग्रहण तो किया हुआ है परन्तु उस प्रकार की विधि दूसरे को बतलानी है न! ऐसे भाव के समय हे अरिहन्तों! अनन्त सिद्धों! मेरे स्वयंवर मण्डप की चारित्रदशा में आपकी उपस्थिति होना चाहिए। आपकी उपस्थिति से हमारे चारित्र की शोभा बढ़ेगी। केवलचन्दभाई! कहो, यह बात ऐसी आती है। वे स्त्री-पुत्र को याद करे, पुत्री को याद करे, दामाद को याद करे, पुत्र को याद करे।

यहाँ कहते हैं... आहाहा! प्रभु! तेरी प्रभुता तुमने तो प्रगट की। समझ में आया? प्रीतम नहीं कहते? प्रीतम कहते हैं न? भगवान को प्रीतम कहा जाता है। क्यों? कि वे प्रियतम हैं। वे प्रीतम व्यवहार से प्रीतम अर्थात् प्रियतम हैं। नेमिदासभाई! क्या कहा? देवचन्दजी स्तुति करते हैं, वहाँ कहते हैं,

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम म्हारो और न चाहूँ कन्थ,
रिझो साहिब संग न परिहरे, भांगे सादि अनन्त॥ भांगे सादि अनन्त...
ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम म्हारो...

प्रीतम का अर्थ प्रियतम—प्रियतम। वह प्रिय नहीं, प्रियतर नहीं और प्रियतम। समझ में आया? भगवान आत्मा निश्चय से प्रियतम है। समझ में आया? प्रियतम। आत्मा अखण्डानन्द, वह प्रियतम। प्रीतम तो आत्मा अपनी पर्याय का स्वामी शुद्ध का हो, वह स्वयं प्रियतम है। वह स्वयं ही प्रीतम है और ऐसे काल में पूर्ण वीतरागता न हो, तब उसे सर्वज्ञ परमात्मा भी व्यवहार से प्रियतम-प्रीतम कहे जाते हैं। प्रभु! आपके प्रति हमें प्रेम है। इष्ट नहीं कहते? इष्टदेव कहते हैं न? इष्टदेव कहो, प्रेम कहो। उसे धर्मी को जैसा प्रेम साधर्मी और सर्वज्ञ और देव-गुरु-शास्त्र के प्रति होता है, वैसा प्रेम विषय के निमित्त स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब और पैसे (के प्रति) वैसा प्रेम उसे नहीं होता। समझ में आया?

जैसा प्रेम सर्वज्ञ परमात्मा और आत्मा के प्रति होता है, वैसा प्रेम उसे विषय और कषाय मान और अभिमान के सब निमित्त हैं, पैसे, इज्जत, कीर्ति, धूलधमाका, उनके प्रति धर्मी को ऐसा प्रेम नहीं होता और यदि अधिक प्रेम वे ले जाएँ तो भगवान के प्रति उसे प्रेम नहीं है और आत्मा के स्वभाव के प्रति भी उसे प्रेम नहीं है। वह तो मूढ़ और अज्ञानी चार गति में भटकने के रास्ते में-पन्थ में पड़ा है।

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! आपको जहाँ ऐसा देखे... आहाहा! हमारे प्रियतम प्रभु व्यवहार से। निश्चय से प्रियतम प्रभु आत्मा। शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप, वह हमारी प्रियतम चीज़ है। व्यवहार से प्रीतम आप। आपका दर्शन, आपका जाप, आपका ध्यान करनेवाले को, प्रभु! हम धन्य कहते हैं। अब जरा दूसरा आधार देते हैं। है न? यह... कुछ नाम नहीं वहाँ लिखा। बोलो! .....

यः पुष्पैर्जिनमर्चति स्मितसुर,-स्त्रीलोचनैः सोर्च्यते;
यस्तं वन्दति एकशस्त्रिजगता, सोऽहर्निशं वन्द्यते।
यस्तं स्तौति परत्र वृत्तदमन, -स्तोमेन संस्तूयते;
यस्तं ध्यायति क्लृप्तकर्मनिधनः, स ध्यायते योगिभिः।।

देखो! मुनि स्वयं भी भगवान की यह स्तुति करके (कहते हैं) हे नाथ! **जो**

मनुष्य पुष्पों द्वारा जिनेन्द्र भगवान का पूजन करता है,... धर्मी को अपने प्रियतम ऐसा आत्मा के प्रति प्रीति-रुचि वर्तते हुए शुभराग के काल में उसे भगवान की पूजा का भाव आता है। पुष्पों द्वारा जो मुनि, जो कोई जीव, हे जिनेन्द्र! आपका पूजन करता है। गजब भाई! और पुष्प आये। फूल आये, एकेन्द्रिय जीव मरते हैं। अरे! भाई! उस शुभभाव में, उस भाव में ऐसा निमित्त अन्दर आता है। एकेन्द्रिय में फूल आदि जीवों, उनका ऐसा भगवान के प्रति रखता है, हे प्रभु! इस कामबाण ने हमें हैरान किया, यह कामबाण के फूल हैं। हम कामबाण छोड़ना चाहते हैं। हमारे आत्मा के ज्ञानानन्द में रहना चाहते हैं, तो आपको यह फूल रखकर शुभभाव जो होता है, उसे वह पुण्यबन्ध का कारण जानता है। वापस उसका फल कहेंगे।

जो मनुष्य पुष्पों द्वारा जिनेन्द्र भगवान का पूजन करता है, वह मनुष्य परभव में मन्द हास्य सहित ऐसी देवांगनाओं के नेत्रों द्वारा पूजा जाता है... देखो! क्या कहा? उसमें साथ में बात रखते हैं। स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान भी मेरे पास है, ऐसा रखते हैं और हे प्रभु! आपकी पुष्पों द्वारा शुभभाव से पूजन करते हैं न, वह तो स्मरण करना, जाप करना, पूजा-भक्ति सब शुभभाव है। कोई ऐसा कहे कि णमो अरिहन्ताणं... णमो अरिहन्ताणं... णमो अरिहन्ताणं करे तो कुछ अधिक.... ? नहीं। वह शुभभाव है। समझ में आया? और भगवान की पूजा के समय जो पुष्प द्वारा शुभभाव हो, (उसका) फल कि मन्द हास्यसहित वह परभव में ऐसी देवांगनाओं के नेत्रों द्वारा पूजित होता है अर्थात् बड़ा देव (होता है)।

आत्मा की दिव्य शक्ति है, उसकी जितनी दृष्टि और एकाग्रता का विकास होता है, उसके फलरूप से तो शान्ति और आनन्द आता है। परन्तु जितना भगवान की पूजा में शुभभाव होता है, उसके फल में देवांगनाएँ, उनके नेत्रों में उसकी प्रीति लगे उस देव के प्रति। पूर्व में भगवान के प्रति प्रीति से पूजा की है तो उसके फल में देवांगनाएँ इसे नेत्रों द्वारा पूजें अर्थात् बहुमान करती हैं। समझ में आया? और यह कहाँ आया पूजित होता है और यह होता है? भाई! शुभभाव के फलरूप से ऐसी स्थिति को प्राप्त (होता है), परन्तु धर्मी जीव को वर्तमान शुभभाव का अन्तर (में) आदर नहीं होता, तो वहाँ उसके फल का उसे आदर नहीं होता, परन्तु वह आये बिना नहीं रहता। कहो, समझ में आया?

एक पण्डित कहता था। बहुत वर्ष की बात है (संवत्) १९९१-९२ की। एक पण्डित कहे कि यह क्या शास्त्र में लिखा? यहाँ पालन करे ब्रह्मचर्य और वहाँ मिले इन्द्राणियाँ? समझ में आया? यहाँ पालन करे ब्रह्मचर्य और मुनिपना, त्याग और उसके फल में मिले वहाँ इन्द्राणियाँ! यह शास्त्र कैसे? पण्डित वापस शास्त्र का। अरे! भाई! तुझे किसने सिखाया यह? ब्रह्मचर्य अर्थात् आत्मा ज्ञानानन्द—ब्रह्मानन्द की श्रद्धा, ज्ञान की रमणता, उसके फल में ऐसी देवांगनाएँ हैं? नहीं, नहीं। उसमें जरा भक्ति का राग या महाव्रत का राग रह गया है और पूर्णता की प्राप्ति नहीं की, स्वभाव चैतन्य की श्रद्धा-ज्ञान की श्रेणी में चढ़ा है, पूर्ण की प्राप्ति हुई नहीं और देह का आयुष्य पूर्ण हो गया। वह कहाँ अवतरित होगा? कहा, कहाँ गधे में अवतरित होगा? वजुभाई! तब कहे, इस प्रकार से तो हमको (समझ में नहीं आया)। परन्तु तुम शास्त्र के अर्थ समझते नहीं और पण्डिताई के नाम से (ऐसी प्ररूपणा करो कि) जाओ, शास्त्र में ऐसा लिखा है। उसके फल में... उसके फल में नहीं। सुन तो सही!

आत्मा सच्चिदानन्द मूर्ति सिद्ध समान सदा पद मेरो। ऐसे चैतन्य की श्रद्धा-ज्ञान में कोई मेरे कारण राग या निमित्त का नहीं है। ऐसे स्वतन्त्र श्रद्धा-ज्ञान किये, किंचित् रमणता भी थोड़ी हुई। पूर्ण रमणता होवे, तब तो केवलज्ञान होकर देह छूट जाए और अशरीरी हो जाए। अब पूर्ण रमणता नहीं है, तब कमजोरी में राग आये बिना रहता नहीं और वह राग भक्ति आदि, पूजा आदि का, महाव्रत आदि का होता है, उसके फल में अवतार कहाँ मिलेगा? मुक्त तो हो नहीं, पूर्ण प्राप्ति नहीं। तब वह प्राणी नरक में जाएगा? पशु में जाएगा? ढ़ोर समझे? तिर्यंच। मनुष्य में नहीं जाएगा। धर्मी का इतना पुण्य होता है, मनुष्य तिर्यंच का कि वह मनुष्य मरकर मनुष्य नहीं होता। धर्मी जीव सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरकर पशु नहीं होता। पशु मरकर पशु नहीं होता। तिर्यंच में भी सम्यग्दर्शन होता है, परन्तु वह तिर्यंच समकिती तिर्यंच नहीं होता, वह तिर्यंच मरकर मनुष्य भी नहीं होता। उसे आत्मा की जो दिव्यशक्ति का भान होकर प्रतीति वर्तती है, उसमें भगवान के प्रति, सर्वज्ञ के प्रति का भाव और दया, दान आदि का भाव हुआ, उसके फल में वह स्वर्ग की इन्द्राणियाँ उसके फल में मिलेंगी।

मुमुक्षु : राग का फल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग का फल है। वह धर्म का, गुण का नहीं। और न हो तो तब उसे अवतार कहाँ लेना? तब उसने कहा, हाँ, परन्तु इस प्रकार से हमें कोई समझाता नहीं। परन्तु समझाता नहीं किन्तु तुम सीधे नास्ति से शास्त्र के उल्टे अर्थ करो। शास्त्र ऐसा कहता है... शास्त्र ऐसा कहता है। अब शास्त्र क्या कहता है? उसे समझने में...

यहाँ तो आया कि पुष्पों द्वारा, हे भगवान! आपकी पूजा करे, वह देवांगना के नेत्रों से पूजित होता है। अर्थात्? दो बातें की हैं। एक देवांगनाएँ उसे मिलती हैं और देवांगनाओं को उसका आदर होता है—वे देव का आदर करती हैं। क्योंकि यहाँ भगवान का पुष्पों द्वारा आदर किया है और आत्मा में भान वर्तता है कि राग मेरी चीज़ नहीं है। वह राग आये बिना रहता नहीं, तो राग का आदर नहीं, तो भी उस राग के फल में उसे इन्द्राणी (कहती है), खम्मा अन्नदाता! कहाँ से आप पधारे? कहाँ से आये? कहाँ से आपका यहाँ जन्म हुआ? ऐसे इन्द्राणियों के नेत्र के पुष्प द्वारा (पूजा जाता है)। यहाँ कहा था न? पुष्प द्वारा भगवान को पूजे। नेत्र कमलरूपी पुष्प इन्द्राणी के। वह देव होकर समकिती धर्मी, उस नेत्ररूपी कमल के फूल से पुजेगा। समझ में आया? गजब भाई!

यह लालच तो नहीं दिया न? इसीलिए तो पहली बात की है। अरे! भगवान! यह तो वीतरागी सन्तों की वाणी है। उसका कारण क्या? उसका फल क्या? और वह फल किस प्रकार का कहाँ मिले? इसकी व्यवस्था की बात है। भगवान की पुष्प द्वारा जो भक्ति करे, उसके फल में इन्द्राणियों के नेत्रोंरूपी पुष्पों से वह पुजेगा। अर्थात् ऐसे संयोग में उसका अवतार होगा। तथापि धर्मी की दृष्टि (वहाँ नहीं है)। समझ में आया? यह आगे आयेगा। आगे तो कितनी गाथा चली। अन्त में तो यह लेंगे कि हे नाथ! उस इन्द्र के अवतार या स्वर्ग के अवतार होंगे अवश्य। हमें लगता है। हम पंचम काल के मुनि हैं। पंचम काल में हमें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं है, परन्तु हम अभी से ही उस राग का निषेध करते हैं और राग के फल का अनादर करते जाते हैं। यह नहीं रे, नहीं। यह सड़े हुए तिनके जैसे इन्द्र के भोग और इन्द्राणी के नेत्रों से हमारा आदर, यह सड़ा हुआ कचरा (जैसा भासित होता है)। उकरडा समझते हो? ढ़ेर होता है न? सड़े हुए तिनकों का, कूड़े का ढ़ेर। ऐसा हम समझते हैं, मुनि कहते हैं। परन्तु मिले बिना रहेगा नहीं, हों!

क्योंकि राग का फल, संयोगी भाव का फल क्या होगा? संयोग होगा। भले दया, दान, भगवान की पूजा का भाव (हो) परन्तु वह संयोगी (भाव है), स्वाभाविक भाव नहीं। इसलिए संयोग के फल में संयोग ऐसे मिलेंगे।

हे प्रभु! जो मनुष्य एक बार भी जिनेन्द्रदेव को वन्दन करता है, वह मनुष्य अहर्निश (तीन लोक में) वन्दनीय होता है। क्या कहते हैं? तीन लोक में वन्दनीय। एक बार भी चैतन्य की श्रद्धा-ज्ञान के भान द्वारा अन्तर का वन्दन स्वरूप का किया और ऐसे वन्दन करता है तो कहते हैं कि वह पुण्य ऐसा बँधेगा कि तीन लोक में वन्दनीय जो तीर्थंकर होगा। सातिशय पुण्य ऐसा बँधेगा कि जिस पुण्य के फल में तीन लोक के देव और तीन लोक के इन्द्र या अधिपति उसे वन्दन करेंगे। समझ में आया? यह तो उसका स्वरूप बताते हैं। उसे लालच देकर कि ऐसा कर, ऐसे करने की कर्ताबुद्धि जहाँ नहीं। आहाहा! गजब बात परन्तु भाई! समझ में आया?

तीन लोक में उसे वन्दन करते हैं। **वह मनुष्य अहर्निश (तीन लोक में) वन्दनीय होता है।** अहर्निश। तीर्थंकर प्रकृति बँध जाए या कोई महान गणधर आदि पद प्राप्त हो या अनेक प्रकार के बाह्य के इन्द्रादि के पद मिलें तो लोग ऐसे खम्मा-खम्मा (करे)। यह भगवान की पूर्णता की खम्मा-खम्मा की है। भगवान सर्वज्ञ को अनन्त चतुष्टय प्राप्त है भगवान। अनन्त ज्ञान दर्शन, आनन्द और वीर्य। खम्मा-खम्मा तुम्हारा साध्यपद प्रगट हुआ। अहो! जयवन्त रहो। ऐसा जिसने किया है, उसने आत्मा की भूमिका के भान के काल में भाव आया। तीन लोक के मनुष्य और देव उसे वन्दन करेंगे। क्या कहते हैं यह? नेमिदासभाई! तीन लोक के वन्दनीक किसे? समकिती जीव को इन्द्र आदि या तीर्थंकर वन्दनीय होते हैं। समझ में आया?

इसीलिए कहते हैं कि प्रभु! हमारा आत्मस्वभाव करण उपाय, उसे तो हम जानते हैं कि आत्मा कैसे तिरे और पूर्ण की प्राप्ति हो। अतः आप तिरकर, तरणतारण होकर बैठे, उनको हम वन्दन और भक्ति करते (हैं)। तीन लोक में उसका वन्दन और आदर होगा। ऐसे शुभराग के फल को वास्तविक स्थिति क्या है, यह वर्णन करते हैं।

अर्थात् तीन लोक आकर उसे वन्दन करता है। जो मनुष्य एक बार भी जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करता है... एक बात। ओहोहो! आदि ही की नहीं एक बार, कहते

हैं। ऐसा चैतन्य भगवान, प्रभु चैतन्य चमत्कार के निज रस से भरपूर आत्मा की जिसे श्रद्धा-ज्ञान और भाव किये और पूर्ण प्राप्ति परमात्मा को हुई, उनकी जो स्तुति करता है, उसकी तीन लोक में बड़े-बड़े इन्द्र स्तुति करते हैं। उसकी परलोक में। यहाँ ऐसा करे तो परलोक में उसे इन्द्र आदि भी आदर करेंगे। कहो, समझ में आया?

यहाँ तो उत्कृष्ट लोकोत्तर पुण्य का वर्णन करते हैं। साधारण पुण्य बाँधकर स्वर्ग में जाता है, तब वहाँ देवों आदि की सभा भरती है, तो सभा भराने पर वे साधारण आराधक पुण्य जिसका नहीं है, वह बोलना चाहे तो दूसरे देव आकर (कहे), मा भास्य देवा। बोलना नहीं, बैठ जाओ। नेमिदासभाई! इसने आत्मा को बैठा दिया था और स्वभाव का भान नहीं किया था और अकेले राग का आदर (करके) ऐसा पुण्य बँधा। सभा भरी हो और बोलने जाए, सामने पड़ने जाए (तो कहे) बैठ जाओ। और आराधक पुण्यवाला धर्म के ध्यान और आत्मा के भान सहित जिसने ऐसे पुण्य किये, भगवान की स्तुति की, उसके पुण्य में वहाँ अवतरित हुआ। एक ओर ऐसे बैठा हो। अरे! कौन है वह पीछे बैठा है? आओ... आओ... आओ... आओ... अरे! बोलो तो सही कुछ। क्या बैठे हो तुम। अरे! तुम्हारे वचन हैं, उन्हें झरने तो दो। भगवानजीभाई! ऐई! केवलचन्दभाई! किसकी बात चलती है यह? ऐसे भगवान को स्तवन किया है न, भगवान को ऐसे आदर दिया है और पूर्ण स्वभाव का विकल्प द्वारा। ऐसा आदर। अन्तर में तो आदर दिया है। कहते हैं कि उसके फल में देवलोक के देव भी आदर-स्तुति करेंगे। आओ, बैठो, पधारो, सामने बोलो। कुछ बोलो, कुछ स्तुति करो, कुछ हमें चर्चा-वार्ता धर्म की सुनाओ। ऐसे-ऐसे भगवान की जिसने स्तुति की, उसकी स्तुति स्वर्ग में देव भी करेंगे। क्या है यह? धीरुभाई! लालच नहीं होगा न? भाई! यहाँ लालच कहाँ? यहाँ तो वीतरागता है न! वीतरागभाव। आहाहा!

यह १७२ गाथा में कहा है, नहीं? पंचास्तिकाय में। एक वीतरागभाव प्रमुखरूप से... वीतरागभाव... वीतरागभाव... एक रजकण की पीड़ा इस देह की कौन आदरे? कौन करे? कौन भोगे? राग का कण, वह शुभराग कहाँ मेरी चीज़ है? ऐसी जिसकी दृष्टि, ऐसी जिसकी स्थिरता, वह पूरे शास्त्र और सर्वज्ञ परमात्मा के सिद्धान्त और शास्त्र का तात्पर्य है। उपेक्षा कर राग की और निमित्त की; स्वभाव का आश्रय कर। ऐसे

वीतरागभाव में लालच नहीं हो सकती, परन्तु उस धर्मात्मा को शुभभाव होता है। उसके भावरूप से उसे क्या फल मिलता है, उसकी यहाँ बात कर रहे हैं।

और जो मनुष्य एक बार भी जिनेन्द्र भगवान का ध्यान करता है... एक बार अर्थात् अनादि काल का अज्ञान टालकर, छेदकर ज्ञानानन्द के आदर में ध्यान में एक क्षण रहा, (उसके) जन्म-मरण का अन्त आ गया। भगवान! तेरी स्तुति पूर्णानन्द प्राप्ति हुई, उसकी एक बार भी निश्चयसहित करता है, वह **समस्त कर्मों से रहित हो जाता है।** वह समस्त कर्मों से रहित हो जाता है। **और बड़े-बड़े योगीश्वर भी उसका ध्यान करते हैं।** कहो, भगवान का ध्यान करके भगवान हो जाए। वह योगीश्वर भी उसका ध्यान करते हैं। सिद्धपद और अरिहन्त पद में मिल जाता है। शुभरागरूप से तो समवसरण और बाहर की चीज़ें प्राप्त होती है और स्वभाव के ध्यानरूप से पूर्णता होती है। दूसरे देव या इन्द्र या गणधर भी उसका ध्यान करते हैं। जिसने हे भगवान! आपका ध्यान किया, उसका इन्द्र भी ध्यान करते हैं।

इसलिए भव्य जीवों को भगवान का पूजन, वन्दन, स्तुति और ध्यान सर्वदा करना चाहिए। सर्वदा करना; सर्वदा का अर्थ दो प्रकार से है, हों! आत्मा के ज्ञान की सर्वदा दृष्टि रखना चाहिए और भगवान की भक्ति आदि, स्तुति आदि का ध्यान भी उसे होना चाहिए।

गाथा ३

चम्मच्छिणा वि दिट्ठे तइ तइलोये ण माइ महहरिसो।
णाणच्छिणा उणो जिण ण याणिमो किं परिप्फुरइ।।३।।

अर्थ :- हे जिनेन्द्र! हे भगवान! यदि हम आपको चर्म की आँख से भी देख लें तो भी हमें इतना भारी हर्ष होता है कि वह हर्ष तीनों लोकों में नहीं समाता। फिर यदि आपको हम ज्ञानरूपी नेत्र से देखें, तब तो हम कह ही नहीं सकते कि हमें कितना आनन्द होगा?

भावार्थ :- चर्म के नेत्र का विषय परिमित तथा बहुत थोड़ा है, इसलिए उस चर्म-नेत्र से आपका समस्त स्वरूप हमको नहीं दीख सकता, किन्तु हे प्रभो! उस चर्म-नेत्र से जो कुछ आपका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, उससे ही हमें इतना भारी हर्ष होता है कि और की तो क्या बात? वह तीनों लोक में भी नहीं समाता, किन्तु यदि हम ज्ञानरूपी नेत्र से आपके समस्त स्वरूप को देखें, तब हम नहीं जान सकते कि हमें कितना आनन्द होगा?

गाथा - ३ पर प्रवचन

च मच्छिणा वि दिट्ठे तइ तइलोये ण माइ महहरिसो।
णाणच्छिणा उणो जिण ण याणिमो किं परिप्फुरइ।।३।।

हे **जिनेन्द्र!** हे भगवान! **हम आपको चर्मचक्षु से भी देखते हैं तो भी हमें ऐसा भारी हर्ष होता है।** ऐसा भारी हर्ष होता है। क्या कहते हैं? चर्मचक्षु से अर्थात् विकल्प द्वारा भी हम भगवान को देखते हैं। यह विकल्प, वह चर्मचक्षु। शुभराग। अन्तर का निर्विकल्प स्वभाव का तो क्या करें? निर्विकल्प की प्राप्ति होने पर हमको कितना आनन्द आयेगा? निर्विकल्प की पूर्ण प्राप्ति। समझ में आया इसमें? ऐसे गुण-गुणी का भेद नहीं। ऐसे अभेद की श्रद्धा-ज्ञान की दृष्टि प्रगट होने पर, पश्चात् रमणता होने पर हमें निर्विकल्प अर्थात् अभेद दशा पूर्ण प्रगट होगी, उसके आनन्द की तो क्या बात करना? उसके आनन्द की तो क्या बात समझना? परन्तु प्रभु! आपको ऐसे विकल्प द्वारा भी यदि हमारी दृष्टि स्वभाव की रखकर आपको देखते हैं तो हमको इतना पुण्य होता है। **भारी हर्ष होता है। वह हर्ष तीन लोक में नहीं समाता।** ओहोहो! भारी बात, भाई! इसका अर्थ हर्ष... हर्ष... हर्ष... हर्ष... यह हर्ष जीमण (प्रीतिभोज) नहीं करते? मलूकचन्दभाई! क्या होगा यह? यह लड़के-बड़के का विवाह करे और फिर जाए न, क्या कहलाता है? बरोठी करे। फिर वह करे प्रीतिभोज सामनेवाला। आज तो प्रीतिभोज है। धूल का नहीं। पाप का भोज है।

यहाँ तो कहते हैं प्रभु! हमारा चैतन्य निधान, उसे देखने को हमें जो हर्ष वर्तता

है, श्रद्धा-ज्ञान वर्तते हैं और उसकी पूर्णता से हमको क्या आनन्द आयेगा! उसकी तो क्या बात करना? परन्तु आपके दर्शन से हमें तीन लोक में वह पुण्य समायेगा नहीं, ऐसा पुण्य बँधेगा। उस पुण्य का विस्तार करेंगे, तीन लोक में नहीं समाये, ऐसा पुण्य हमें बँधेगा और जो कोई ऐसा करेगा, उसे ऐसा पुण्य बँधता है। नेमिदासभाई! ओहो! तीन लोक के जाननेवाले होंगे और तीन लोक अर्थात् लोकालोक के, अन्दर के भान द्वारा और शुभभाव से आपको भी देखा है न! आहाहा!

इन्द्र, भगवान जब जन्मते हैं न, तब इन्द्र हजार आँख से ऐसे देखते हैं। हजार नेत्रों से। इतना तो सुन्दररूप, इतनी तो उनकी पुण्य प्रकृति का प्रभाव। ओहोहो! यह है कौन? यह शरीर क्या यह! पूर्व में तीर्थंकर प्रकृति बँधी थी, उस विकल्प से। उसमें यह जो पुण्य बँध गया, तीन लोक में उसका हर्ष नहीं समाता, कहते हैं। तीन लोक के जीव को हर्ष (वेदन में आयेगा)। भगवान का जन्म होता है तो तीन लोक में घड़ी (भर) साता हो जाती है। क्या कहा? तीर्थंकर परमात्मा का जन्म होता है न, जन्म? तीन लोक में घड़ी भर साता हो जाती है। किसके कारण? यह तो उनकी योग्यता उनकी। इनके पुण्य का जो विकल्प था, (उसके फल में) तीन लोक में साता (होगी)। ऐसा तो प्रभु! आपके दर्शन और आपकी स्तुति का फल है। क्या है यह? धन्नालालजी! क्या है? इतना सब? तीन लोक में समाता नहीं, कहते हैं। ओहोहो! बाह्य पुण्य इतना कि तीन लोक में वह पुण्य पसरता है, विस्तरित होता है। नहीं लोग बहुत पुण्य होवे तो ऐसा कहते हैं कि ओहोहो! इसका कोई पुण्य! हाम, दाम और ठाम। बातें नहीं करते लोग? धूल में भी नहीं अब मरकर जाएगा नीचे। नेमिदासभाई! क्या कहते हैं? इसे तो हाम बहुत, हिम्मत बहुत। ठाम बहुत, मकान बहुत और हाम-दाम बहुत। धूल बहुत, ऐसा। हाम, दाम और ठाम। आहाहा! कुछ नहीं होता, भाई! यह हाम, दाम, यह ठाम नहीं। असंख्य प्रदेशी चैतन्य ठाम, उसमें हाम आत्मा की पुरुषार्थ की उग्रता हिम्मत द्वारा एकाग्र होना और अपना दाम अन्तरलक्ष्मी भरी है, उसमें स्थिर होना। यह हाम, दाम और ठामवाला कहलाता है।

परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु हमें हमारा ठाम तीन लोक में हमारे पुण्य का हर्ष नहीं समाता। सम्यग्दर्शनसहित की बात करते हैं, हों! यह सब। मिथ्यादृष्टि को ऐसा

पुण्य नहीं होता। जहाँ तीन लोक—तीन काल को जाननेवाला चैतन्य। ऐसे लोकालोक को जानने का स्वभाव, ऐसी जिसे अधिकता और महिमा रागरहित होकर आयी है, उसके पुण्य में भी तीन लोक में हर्ष नहीं समाये, ऐसा पुण्य बँधता है। ऐसा उसके फल का वर्णन करते हैं।

तो फिर यदि हम ज्ञानरूपी नेत्र से आपको देखें... ओहो! क्या कहा? चर्मचक्षु। यह आँख। आँख तो ठीक, वह विकल्प है। भगवान आत्मा शान्तरस से विराजमान परमात्मा। जिन नहीं, परन्तु जिनसरीखा। जिनप्रतिमा जिनसारखी। जिनप्रतिमा जिनसारखी। प्रभु! हमारी अन्तर वीतरागी आलोकन दृष्टिसहित आपको जब हम अवलोकते हैं और विकल्प से आपकी पूजा-भक्ति करते है, तब प्रभु! उसके फल की तो क्या बात करें? परन्तु यदि ज्ञान नेत्र से आपको देखा, अर्थात् ज्ञाननेत्र से अन्तर में स्थिर होकर पूर्णता को प्राप्त किया तो उसके आनन्द की क्या बात करना? समझ में आया? इतने देखो, तात्त्विक बात भी साथ ही आती है या नहीं इसमें? यह तात्त्विक बात है, अकेली भक्ति की बात नहीं।

मुमुक्षु : अकेली भक्ति नहीं होती।

पूज्य गुरुदेवश्री : अकेली भक्ति को, व्यवहारभक्ति को व्यवहारभक्ति कहते ही नहीं। निश्चयभक्तिसहित भक्ति अर्थात् कि सम्यक्। निश्चयभक्ति अर्थात् आत्मा रागरहित पूर्णानन्द की प्रतीति, वह निश्चयभक्ति अर्थात् सम्यक्। और भगवान की श्रद्धा आदि की भक्ति का राग, वह व्यवहार समकित अर्थात् कि व्यवहारभक्ति। व्यवहारभक्ति के फल में तीन लोक में हर्ष नहीं समाये, ऐसा हमें प्राप्त होगा। अथवा उसके करनेवाले को प्राप्त होगा। ऐसा उसका वर्णन करते हैं।

तो हमें कितना आनन्द होगा, यह हम जान नहीं सकते। अर्थात् कि वर्तमान में हमें अभी केवलज्ञान की, आनन्द की पूर्ण दशा नहीं है। पूर्ण आनन्द, नेत्र द्वारा अन्तर में निहारकर स्थिर होऊँगा और केवलज्ञान प्राप्त करूँगा, तब उसके आनन्द की क्या बात करना? परन्तु आप पूर्णानन्द को प्राप्त हुए और पूर्णानन्द आत्मा की दृष्टि होने पर, पूर्णानन्द को प्राप्त के दर्शन से हमें इतना पुण्य बँधेगा तो अन्तर की पवित्रता प्रगट होने पर क्या आनन्द हमें नहीं आयेगा! ऐसा करके भगवान की स्तुति करते हैं। कहो, समझ में आया?

इस चर्मचक्षु से... चर्मचक्षु का विषय परिमित और बहुत थोड़ा है। आँख का विषय कितना? ऐसे भगवान को देखे, राग को देखे। यह सब चर्मचक्षु हैं। अन्तर के ज्ञाननेत्र से देखने पर आत्मा अपरिमित स्वभाव है। उसे जानने के स्वभाव बिना इन्द्रिय के ज्ञान से और विकल्प से कितना जाने? विकल्प से कितना जाने? चौदह पूर्व का पठन और सब विकल्प से कुछ होता है? अन्तर चैतन्यस्वभाव उछलता है अन्दर। भर समुद्र अन्दर से उछलता है। आहाहा! भर समुद्र ज्वार में आवे, वह ज्वार कहीं बाहर के पानी से नहीं आता। अन्दर से चैतन्यमूर्ति अपरिमित को हम देखते हैं तो कहते हैं कि हमारा क्या कहना? परन्तु यह इन्द्रिय का विषय और विकल्प का विषय ही परिमित है। शुभराग का विषय परिमित है। भगवान को देखे तो इतना अल्प होता है। कहो, समझ में आया?

चर्मचक्षु द्वारा आपका... आपका है न? **समस्त प्रकार से हमको दिख नहीं सकता।** तथापि हे प्रभु! यदि चर्मचक्षु से आपका जो कुछ स्वरूप दिखता है... हमें दृष्टि गोचर होता है। **उससे भी और भारी हर्ष होता है।** ऐसा भारी हर्ष होता है कि दूसरा तो क्या, परन्तु तीन लोक में भी नहीं समाता। तीन लोक में नहीं समाये, ऐसा हमें हर्ष होता है। **तो फिर हम ज्ञानरूपी नेत्र द्वारा यदि आपके भलीभाँति समस्त स्वरूप को देखे...** समस्त स्वरूप की व्याख्या है, हों! यहाँ। **तो हम नहीं जानते कि हमें कितना आनन्द प्राप्त होगा?** ऐसा कहने से शुभराग से तो परिमितता अमुक हद ज्ञात होती है ज्ञान में। और ज्ञान की वर्तमान दशा को अन्तर्मुख एकाकार ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान के भेद टालकर एकाकार होकर जो पूर्णानन्द की प्राप्ति होती है, उस आनन्द की क्या बात करें। वह भी अभी खबर नहीं पड़ती। वह होगा, तब उसका अनुभव होगा। परन्तु अभी हम कहते हैं कि हमारा आनन्द हमें प्रगट होगा और अभी इस परिमित ज्ञान से-आपको राग से देखते हैं। उसका हमें परिमित बाहर का तीन लोक में न समाये, ऐसा पुण्य और ऐसा हर्ष हमें प्राप्त होगा। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार दो प्रकार से स्तुति के फल और स्तुति का वर्णन करते हैं। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)